भारत सरकार अधिनियम 1935 की पृष्ठभूमि एवं प्रावधानों का अलोचनात्मक विश्लेषण

किशोर कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर–इतिहास,कु.मा.रा.म.स्ना.महा. बादलपुर, गौतमबुद्ध नगर
Email: dr.kumarkishor@gmail.com

Abstract. भारत के संवैधानिक इतिहास में भारत शासन अधिनियम 1935 एक महत्वपूर्ण कदम था। देश को एक लिखित संविधान देने का प्रयास किया गया, परंतु भारत की जनता या उसके प्रतिनिधियों का इस दस्तावेज के निर्माण में कोई योगदान नहीं था। प्रतिनिधित्व की संकल्पना भी सच्चे अर्थों में स्थापित नहीं हुई थी, फिर भी यह तुलनात्मक रूप से एक प्रगतिशील कदम था। यह शोधपत्र भारत शासन अधिनियम 1935 की पृष्ठभूमि एवं उसमें निहित प्रावधानों का विस्तृत विवरण प्रदान करने का वस्तुनिष्ठ प्रयास है।

भारतीय शासन अधिनियम 1919 की सीमाओं यथा–'केंद्रीय स्तर पर उत्तरदायित्व का पूर्ण अभाव, प्रांतों में द्वैध शासन के अंतर्गत हस्तान्तरित एवं आरक्षित विषयों का अतार्किक एवं भ्रममय विभाजन, प्रांतीय शासन में उत्तरदायित्व के सिद्धांत की अपूर्णता और सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व आदि से इसका असफल होना अवश्यंभावी था' आगामी समय में इसके क्रियान्वयन में सहकारिता और सहभागिता के अभाव में इसे अप्रासंगिक सुधार कहना समीचीन प्रतीत होता है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने इस अधिनियम के द्वारा स्थापित केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान मण्डल के प्रथम चुनाव (1920–21) में भाग नहीं लिया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में कांग्रेस छोड़कर 'राष्ट्रीय उदारवादी संघ' ने इस सुधार का स्वागत किया तथा आगामी चुनाव में भाग लिया। उदारवादियों ने नए अधिनियम के क्रियान्वन के पहले ही केंद्रीय विधान सभा में एक प्रासंगिक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसमें अनुरोध किया गया कि प्रांतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाए तथा प्रतिरक्षा, विदेश तथा राजनीतिक विभागों के अलावा अन्य समस्त केंद्रीय विषयों को लोक–नियंत्रण के अधीन रखा जाए। भारत में उत्तरदायी शासन की दृढ़ माँग, महात्मा गांधी के आगमन से कांग्रेस के स्वरूप में परिर्वतन (उच्च एवं मध्यम वर्ग की सीमा को तोड़कर जनसामान्य तक विस्तृत होना एवं रचनात्मक कार्य यथा हिन्दू–मुस्लिम एकता, अस्पृश्यता निवारण, स्त्री उद्धार आदि) ने समाज में एकजुटता स्थापित कर समग्र रूप से भारतीय समाज को स्वाधीनता आंदोलन की ओर अग्रसर किया।

भारतीय शासन अधिनियम 1919 ई. की धारा–84 के तहत सांविधानिक सुधारों की समीक्षा के लिए दस वर्ष पश्चात् एक सांविधानिक आयोग की नियुक्ति का प्रावधान कर दिया गया था। इसका कार्य भारत सरकार की कार्यप्रणाली की जाँच करना एवं रिपोर्ट देना था कि किस सीमा तक इसके अंतर्गत भारत में उत्तरदायी सरकार की सीमा निर्धारित करना वांछनीय है, परंतु भारत एवं इंग्लैंण्ड की राजनीतिक परिस्थितियों में यह अवश्यंभावी हो गया कि इस तरह के आयोग की नियुक्ति यथा–शीघ्र की जाए। ब्रिटिश नीतियों के प्रभाव और एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में उभरते हुए देश में राष्ट्रीय आंदोलन निरंतर गति पकड़ रहा था। रॉलट एक्ट, जलियांवाला हत्या काण्ड आदि असंवेदनशील, नृशंस गतिविधियों के विरूद्ध महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन की असीम सफलता ने ब्रिटिश शासकों को चिंतित कर दिया। महात्मा गांधी के अवतरण से आशान्वित, असहयोग आन्दोलन के दौरान शांत क्रांतिकारी आंदोलन,

असहयोग आंदोलन के स्थगन से पुनः अधिक शाक्ति, अधिक परिकल्पना के साथ परिलक्षित हुआ। इस दौरान के क्रांतिकारी भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्लाह खां, सूर्यसेन आदि समाजवादी विचारों से प्रभावित नेता थे। प्रमुख क्रांतिकारी भगत सिंह ने समाजवाद में आस्था व्यक्त करते हुए कहा कि मै आतंकवादी नहीं हूं। किसानों को केवल विदेशी शासन से ही नहीं, अपितु जमींदारों एवं पूँजीपतियों के चंगुल से भी मुक्त कराना होगा।

इस समय इंग्लैण्ड में अनुदार दल की सरकार थी किंतु 1929 में आम चुनाव होने वाले थे, जिसमें श्रमिक दल की विजय की पूरी संभावना थी। अनुदार दल यह नहीं चाहता था कि भारत के राजनीतिक भविष्य का निर्णय श्रमिक दल के हाथों में हो। साथ ही भारतीय नेताओं की माँग भी थी कि शीघ्र ही सांविधानिक व्यवस्था में सुधार हो।

उपर्युक्त परिस्थितियों में ब्रिटिश संसद ने शासन पद्धति के क्रियान्वयन की जाँच करने तथा इस संबंध में प्रतिवेदन देने के लिए कि 'क्या भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना वांछनीय है', 26 नवंबर 1927 को सर जान साइमन के नेतृत्व में रॉयल कमीशन नियुक्त किया। भारतीयों को आशा थी कि कमीशन में उन्हें भी सम्मिलित किया जाएगा, परंतु लार्ड बिरकेनहेड (लार्ड बिरकेनहेड), जो उस समय भारत सचिव (सेक्टरी ऑफ स्टेट फोर इंडिया) था, ने कमीशन में भारतीयों को सम्मिलित करने का विरोध किया और उसे पूर्णतया संसदीय आयोग (पाल्यमेन्टेरीयन कमीशन) बनाने पर जोर दिया।[1] आयोग में सात अंग्रेज सदस्य वर्नहम, स्टेथकोना, माउण्ट रायल, ई. कैडौगन, बी. हर्टशार्न, जार्ज लैन फाक्स और एटली को सम्मिलित किया गया।[2] इस आयोग में एक भी भारतीय नहीं था। यह देश के लिए अपमानजनक था। भारतीय लोकमत के प्रायः सभी वर्गों ने साइमन आयेग का घोर विरोध किया। इलाहाबाद में 11 दिसम्बर 1927 को हुई सर्वदलीय बैठक में कमीशन से भारतीयों को पूरी तरह बाहर रखने की भर्त्सना की गई। कांग्रेस के 42 वें अधिवेशन (दिसम्बर 1927, मद्रास) में साइमन आयोग के विरूद्ध आलोचनात्मक प्रस्ताव पारित किया गया। इस प्रस्ताव में कहा गया कि भारत के आत्मनिर्णय की पूरी उपेक्षा करके साइमन कमीशन की नियुक्ति की गई है और इसका 'हर मंजिल और हर रूप में' बायकाट किया जाना चाहिए भले ही वह कमीशन के लिए सबूत इकट्ठा करने या उसमें काम करने की बात ही क्यों न हो।[3]

भारत के सभी राजनीतिक दलों यथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा आदि ने इसका पूर्ण बहिष्कार किया। वास्तव में जिस आयोग को भारत का राजनैतिक भविष्य तय करना हो, उसके लिए एक भी भारतीय को योग्य न समझना भारत के लिए अपमानजनक बात थी। नरमदलीय नेता जो सरकार समर्थक माने जाते थे, उन्होंने भी बहिष्कार का आह्वान किया, जिसका नेतृत्व तेज बहादुर सप्रू ने किया। लाला लाजपत राय के नेतृत्व में आयोग के विरूद्ध प्रदर्शनकारी भीड़ पर लाठीचार्ज किया गया, जिसमें लाला लाजपतराय गंभीर रूप से घायल हुए तथा कुछ दिनों के पश्चात उनकी मृत्यु हो गई। प्रत्येक स्थान पर 'साइमन वापस जाओ' के नारों से भारत गूंज उठा। उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में भारत सचिव बिरकेनहेड ने यह घोषणा की कि यदि भारतीय अपने लिए कोई ऐसा संविधान बना सकें, जो सभी वर्गों के लोगो के लिए मान्य हो, तो ब्रिटिश संसद ऐसे संविधान पर चर्चा करने के लिए तैयार है। उनका यह मत था कि भारत में संविधान के प्रश्न पर कभी मतैक्य नहीं हो सकता। भारतीयों ने भारत सचिव की चुनौती को स्वीकार करते हुए फरवरी 1928 ई. में सभी राजनीतिक दलों की बैठक बुलाई। संविधान का प्रारूप तय करने के लिए पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक उप समिति का गठन किया गया। समिति के सदस्य के रूप में सर टी.बी.सप्रू, सर अली इमाम, श्री एम.एस. अणे, सरदार मंगल सिंह, श्री कुरेशी, श्री जे.

आर.प्रधान तथा नेता जी सुभाष चन्द्र बोस को नियुक्त किया गया। इस समिति की रिपोर्ट नेहरू रिपोर्ट के नाम से भारत के संवैधानिक इतिहास में प्रसिद्ध है। आयोग के बहिष्कार के बावजूद साइमन कमीशन ने अपना कार्य जारी रखा तथा देश के विभिन्न भागों में जाकर लोगों से बयान लिया। साइमन आयोग के सदस्यों ने दो बार भारत का दौरा किया। विरोध की भावना को कम करने के लिए ब्रिटिश सरकार को यह घोषणा करनी पड़ी कि कमीशन का कार्य समाप्त हो जाने के पश्चात तथा भारत के लिए संविधान लागू करने से पहले भारतीय प्रतिनिधियों को विचार–विमर्श हेतु बुलाया जाएगा।

उन्नीसवीं शताब्दी तक पूरे भारत में दलित आंदोलन का विस्तार होने लगा था। शिक्षा के अवसरों, बंजर भूमि के खेती हेतु उपयोग, मंदिरों में प्रवेश, सार्वजनिक स्थानों के उपयोग तथा सड़कों एवं सार्वजनिक परिवहन के प्रयोग के लिए दलितों का संघर्ष जारी था। उन्हें समाज सुधार से जुड़े विभिन्न संगठनों तथा ईसाई मिशनरियों से समर्थन प्राप्त हो रहा था। महाराष्ट्र में 1875 में ज्योतिबा फुले द्वारा स्थापित 'सत्यशोधक समाज' से भी दलित आंदोलन को समर्थन मिला।[5] बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के पश्चात् अस्पृश्यता के विरूद्ध राष्ट्रीय जागरण का प्रारंभ हो गया। फलस्वरूप 1916 के कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन से अस्पृश्यता के विरूद्ध पहला संकल्प पारित हुआ। इसी वर्ष अम्बेडकर अमरीका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय से एम.ए. और पी–एच.डी. की डिग्री प्राप्त कर बंबई के सिडेनहेम कालिज में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हो गए। अपनी विद्वता एवं कार्य में समर्पण के बावजूद उन्हें जगह–जगह पर जाति के आधार पर अपमानित किया गया। 9 मार्च 1924 को 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' के जरिए अम्बेडकर जन संगठनकर्ता के रूप में उभरे, उनकी छवि प्रभावी वक्ता की बनी जो दलितों की समस्याओं को आवाज देते थे।[6] साइमन आयोग का जब सभी महत्वपूर्ण दलों ने बहिष्कार किया तब अम्बेडकर तथा अन्य दलित प्रतिनिधि कमीशन के समक्ष साक्ष्य देने को कृत संकल्प हुए। अछूतों के सभी 18 संगठनों ने सामने आकर कमीशन के समक्ष साक्ष्य प्रस्तुत किये।

डॉ. अम्बेडकर ने अपने ज्ञापन में राज्यों की स्वतंत्रता तथा वयस्क मताधिकार की बात रखी और उन्होंने समुदाय तथा जाति आधारित मतदाताओं की अवधारणा को नकार दिया था, जिसमें मुस्लिम समुदाय भी शामिल था। उनका अनुरोध था कि मुस्लिमों, अछूतों एग्लों–इंडियन तथा गैर ब्राह्मणों को आरक्षण दिया जाना चाहिये। उन्होंने बम्बई राज्य परिषद् के लिए 140 सदस्यों की व्यवस्था की मांग की जिसमें 33 मुस्लिम तथा 15 अछूत सदस्यों की मांग की। उन्होंने लोक सेवाओं में प्रतिनिधित्व की भी मांग की।[7] अम्बेडकर ने साइमन आयोग को अनुसूचित जातियों की संरक्षा के उपाय करने के लिए एक ज्ञापन दिया। उन्होंने यह कार्य 'बहिष्कृत हितकारी सभा' की ओर से किया। उन्होंने पिछड़े वर्गों के लिए संयुक्त निर्वाचनों और स्थानों के आरक्षण की माँग की। यह ज्ञापन उन अनेक ज्ञापनों में से एक था, जिन्हें अम्बेडकर ने दबे–कुचले लोगों के अधिकारों के लिए ब्रिटिश सरकार को समय–समय पर दिया था। ज्ञापन में यह शिकायत की गई थीं कि राष्ट्र के कार्यों के प्रभारी लोग, हमेशा लाखों बेजुबान लोगों को भूल जाते हैं और 1919 के अधिनियम के अधीन पिछड़े वर्गों के साथ जो ब्रिटिश भारत की जनसंख्या का पाँचवा भाग है, भारी अन्याय किया गया है'।[8]

मद्रास सेंन्ट्रल आदि द्रविड़ महाजन सभा ने पिछड़े वर्गों के लिए नाम–निर्देशन की माँग की। बांम्बे प्रोविनशियल नॉन ब्राह्मण पार्टी ने अपने ज्ञापन में पिछड़े वर्गों के लिए पृथक निर्वाचनों और स्थानों के आरक्षण की माँग की।

साइमन आयोग को दिए गए विभिन्न पिछड़े वर्गों के संगठनों के प्रतिवेदन इन वर्गो में नई जागरूकता और राजनीतिक समझ को प्रदर्शित करते हैं। इससे न केवल आयोग को विभिन्न प्रदेशों के अछूत संगठनों से अनेक महत्वपूर्ण ज्ञापन एवं साक्ष्य प्राप्त हुए, बल्कि इसने उनके प्रतिनिधियों की जाँच करने का भी अवसर प्रदान किया।[9]

आयोग ने अपनी रिपोर्ट में प्रांतों में दोहरी सरकार को समाप्त करके प्रांतीय शासन को पूर्णतः उत्तरदायी (अर्थात् संपूर्ण शक्ति लोकप्रिय चुनाव द्वारा चुने गए मंत्रियों को सौंप दी जाए) बनाने की सिफारिश की। केंन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के विरूद्ध मत व्यक्त करते हुए आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि केंद्र में उत्तरदायी सरकार असंभव तथा असुविधाजनक है। आयोग ने अपनी प्रमुख सिफारिश में यह कहा कि द्वैध शासन समाप्त होना चाहिए और प्रादेशिक प्रशासन का सारा भार मंत्रियों को सौंप देना चाहिए, जो अपने विधान मण्डलों के प्रति उत्तरदायी होंगे। चूँकि आरक्षित विषयों से केंद्रीय सरकार द्वारा और वायसराय द्वारा प्रादेशिक प्रदेशों पर नियंत्रण जारी रखने की आशा की जा रही थी।[10] जहाँ तक संभव हो प्रत्येक प्रदेश को अपने सदन का स्वयं कार्यभार संभालना चाहिए,[11] ऐसी अनुशंसा की गई। आयोग ने माना कि भारत के लिए एकात्मक राज्य व्यवस्था उपयुक्त नहीं है और यह आवश्यक है कि वह यथाशीघ्र एक संघात्मक राज्य के रूप में विकसित हो।

केंद्र से व्यवहार करते समय रिपोर्ट में संघ बनाने की आवश्यकता पर फिर बल दिया गया। इसमें कहा कि केंद्रीय विधानमण्डल, जिसकी स्थापना 1919 में राष्ट्रीय या एकल सिद्धांत पर की गई थी, को संघीय सिद्धांत द्वारा बनाना चाहिए। संघीय असेंबली के सदस्य जिसे अब निम्न सदन कहा जाता है, को अधिकांशतः भारतीय लोगों का प्रतिनिध न होकर प्रदेशों का प्रतिनिधि होना चाहिए।[12] इसलिए उनका निर्वाचन ब्रिटिश भारत के निर्वाचन क्षेत्रों द्वारा न करके प्रादेशिक परिषदों द्वारा किया जाना चाहिए इसी तरह राज्यसभा के लिए निर्वाचन और नाम निर्देशन प्रादेशिक आधार पर होना चाहिए असेंबली के लिए प्रदेशों के मध्य स्थानों का वितरण मोटे तौर पर उनकी जनसंख्या के अनुसार होना चाहिए। राज्य सभा में प्रत्येक प्रदेश के 3 सदस्य होने चाहिए।[13] आयोग ने माना कि चूंकि अभी संघ के समस्त सदस्य संघात्मक व्यवस्था में सम्मिलित होने के लिए तैयार नहीं हैं, अतः सुझाव दिया गया कि संघ निर्माण का आदर्श रखा जाए तथा अनुकूल परिस्थितियों के लिए आवश्यक प्रयत्न किए जाए।

इस आयोग ने औपनिवेशिक हितों को प्राथमिकता देते हुए केंद्रीय सरकार एवं गवर्नर जनरल को अत्यधिक शाक्तिशाली व अनुत्तरदायी बनाने के सुझाव इस तर्क पर दिये कि 'केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए प्रयास किये जा रहे हैं अनुकूल परिस्थितियाँ होने से पहले उसकी स्थापना के लिए प्रयासों से उन्नति के स्थान पर अवनति ही होगी।'[14]

इस रिपोर्ट ने सार्वभौम वयस्क मताधिकार को अव्यावहारिक बताया परंतु यहा भी कहा कि धीरे–धीरे मताधिकार और विधान मण्डलों का विस्तार किया जाना चाहिए एवं 'सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली' को निंदनीय अपरिहार्यता कहा।

यद्यपि भारतीय जनमत ने इस प्रतिवेदन को बिल्कुल ठुकरा दिया और ब्रिटेन में श्रमिक दल की सरकार ने भी इस पर अधिक ध्यान नहीं दिया, तथापि वर्षो बाद 1935 के भारतीय शासन अधिनियम में इसकी बहुत सी सिफारिशों को मूर्त्त रूप मिला। यदि आयोग की सिफारिशें पहले ही मान ली जाती, तो शायद प्रांतीय स्वतंत्रता 1937 के बजाय 5–7 वर्ष पहले ही स्थापित हो जाती।[15]

नेहरू रिपोर्ट में उत्तरदायी सरकार वाली औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग रखी गई जो कि आस्ट्रेलिया एवं कनाडा जैसी थी। व्यवस्थापिका सभा में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर प्रांतीय परिषदों द्वारा निर्वाचित 200 सदस्य होने थे। प्रतिनिधि सभा में वयस्क मताधिकार के आधार पर सदस्य संख्या 500 थी। बंगाल में मुसलमानों एवं पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में गैर मुसलमानों के अलावा संसद में किसी भी तरह का सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रस्तावित नहीं था। प्रांतीय विधान सभाओं में अल्पसंख्यकों के लिए जनसंख्या के आधार पर विशेष आरक्षण की व्यवस्था थी। प्रतिनिधित्व का आधार मात्र वयस्क मताधिकार था। इस सर्वदलीय सम्मेलन को संविधान के मुख्य सिद्धांत प्रतिपादित करने में कोई दिक्कत नहीं हुई क्योंकि उनकी निष्ठा सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप में थी। इस कमेटी को परेशानी सांप्रदायिक और अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व को लेकर थी। कमेटी ने तीन महीने के अंदर 10 अगस्त 1928 को अपनी रिपोर्ट पेश की। भारतीयों द्वारा भारत के लिए संविधान बनाने का यह प्रथम प्रयास था। कूपलैण्ड ने कहा है–'भारतीय राष्ट्रवाद के गैर रचनात्मक होने के आरोप का यह जवाब था और सांप्रदायिक समस्या से जूझने का सबसे खुला प्रयत्न।' नेहरू रिपोर्ट में औपनिवेशिक स्वराज्य[16] की बात कही गई, जिसमें केंद्र तथा प्रदेशों में संसदीय ढाँचे की उत्तरदायी सरकार हो, जहाँ संप्रभुत्ता जनता में निहित हो।

22 दिसम्बर, 1928 को कलकत्ता में रिपोर्ट पर स्वीकृति के लिए विचार–विमर्श किया गया, जहाँ जिन्ना ने मुस्लिमों के लिए सांप्रदायिक माँगों का एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया, जिसमें मुस्लिमों के लिए केंद्रीय विधान मण्डल में एक–तिहाई स्थान की माँग की गई। साथ ही यह मांग भी कि गई कि पंजाब और बंगाल के विधानमण्डलों में मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुसार 10 वर्षों तक प्रतिनिधित्व एवं अवशिष्ट शक्तियां प्रांतों के पास रहें, न कि केंद्र के पास। यह संशोधन स्वीकार नहीं किया गया, अतएव अगले वर्ष के आरंभ में ही 28 मार्च, 1929 को मुस्लिम लीग ने नेहरू संविधान को अस्वीकार कर दिया और इसके विरूद्ध जिन्ना ने 14 प्रस्तावों के माध्यम से अपनी सांप्रदायिक माँगें प्रस्तुत की।

सइमन रिपोर्ट अपने उद्देश्य में असफल रही। यह न तो ब्रिटेन और न ही भारत के नेतृत्व पर अपना प्रभाव डाल सकी यह ब्रिटिश सोच पर आशा के अनुरूप प्रभाव छोड़ने में असफल रही और भारतीय राष्ट्रवादियों पर भी इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।[17] नेहरू रिपोर्ट मुस्लिमों, सिक्खों और हरिजनों को संतुष्ट करने से असफल रही।

1928 मे कांग्रेस के अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया गया तथा उग्रवादियों, क्रांतिकारियों के बढ़ते प्रभावों के कारण 1926 के लाहौर अधिवेशन में पूर्व स्वराज की माँग की गई। यह एक क्रांतिकारी परिर्वतन और ऐतिहासिक फैलता था। इसी के साथ प्रस्तावित गोलमेज सम्मेलन, केंद्रीय एवं प्रांतीय परिषदों के बहिष्कार की घोषणा की गई और कांग्रेसी सदस्यों को इनसे इस्तीफा देने की बात कही गई। कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ करने की घोषणा की, जिसकी शुरूआत 12 मार्च, 1930 को साबरमती आश्रम से चलकर अरब सागर के किनारे दांडी नामक स्थान पर नमक कानून तोड़कर की गई। जिस समय गोलमेज सम्मेलन की घोषणा की गई, कांग्रेस के अधिकतर नेता जेलों में थे।

ब्रिटिश शासन ने 12 नवम्बर, 1930 को भारत की सांविधानिक समस्याओं पर विचार करने हेतु लंदन में सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें ब्रिटिश राजनीतिक दलों, भारतीय उदार संघ, मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा, दलित वर्ग और भारतीय राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें भाग लेने वाले प्रतिनिधियों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है (1) तीनों ब्रिटिश दलों यथा उदार, अनुदार और लेबर पार्टी के

प्रतिनिधि (2) ब्रिटिश भारत से सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य (3) भारत राज्यों से राजकुमार अथवा उनके मनोनीत सदस्य। जहाँ ब्रिटिश प्रतिनिधि अपने–अपने दल की विचारधारा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, वहीं ब्रिटिश भारत से आने वाले सदस्यों को वायसराय ने विभिन्न दलों तथा गुटों से अथवा उनकी व्यक्तिगत योग्यता के आधार पर मनोनीत किया।

आर. कूपलैण्ड के अनुसार, इसके 89 सदस्यों में से 16 ब्रिटिश दलों के प्रतिनिधि थे, जिसमें उस समय की लेबर पार्टी की सरकार के प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड, इसके अध्यक्ष थे। ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के 57 सदस्यों को वायसराय द्वारा सभी भारतीय दलों के प्रतिनिधियों के रूप में (सिवाय कांग्रेस के) भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया। इनमें हिन्दू उदारवादी सर तेज बहादुर सप्रू, श्री शास्त्री, श्री जयकर और चितांमणि प्रमुख थे। मुसलमानों में आगा खाँ, सर मोहम्मद शफी, श्री मोहम्मद अली, श्री फजल–उल–हक और जिन्ना थे। सरदार संपूर्ण सिंह सिखों के अग्रणी प्रतिनिधि थे। महासभा के डॉ.बी.एस. मुँजे, दलित वर्गों के डॉ. अम्बेडकर, भारतीय इसाईयों के श्री के.टी. पॉल, ब्रिटेन के व्यवसायी समूह से सर हरवर्ट कार एवं आंग्ल–भारतीय समूह से लेफ्टीनेंट कर्नल गिडनेय प्रतिनिधि थे। राज्यों के 16 प्रतिनिधियों में अलवर, बड़ौदा, भोपाल, बीकानेर, कश्मीर, पटियाला के शासक थे और ऐसी ही परिस्थिति के कुछ और छोटे शासक थे। हैदराबाद का प्रतिनिधित्व निजाम की कार्य परिषद् के एक सदस्य सर अकबर हैदरी ने, मैसूर का प्रतिनिधित्व सर मिर्जा इस्माइल और ग्वालियर की रिजेंसी परिषद् के सदस्य कर्नल हकसर ने किया।[18]

यह सम्मेलन निःसन्देह ऐतिहासिक और अद्वितीय था। इस सम्मेलन में जिस वृहद रूप मे प्रत्येक वर्ग और हित (कांग्रेस को छोड़कर), को स्थान प्राप्त हुआ, उसकी तुलना ब्रिटिश भारत के इतिहास में अद्वितीय थी। अम्बेडकर के अनुसार 'अछूतों के लिए उनके इतिहास में यह मील का पत्थर था यह पहला अवसर था जब अछूतों को अपने दो प्रतिनिधि अलग से भेजने थे, जिनमें से एक मैं दूसरे दीवान बहादुर आर.श्री निवासन थे।'[19]

इस गोलमेज सभा के कार्यों पर विचार–विमर्श करने के लिए नौ समितियाँ बनाई गई, उनमें से एक कमेटी ऐसी थी, जिसे अल्पसंख्यक समिति के नाम से जाना जाता था। उसे सांप्रदायिक प्रश्नों का हल निकालने का कठिन कार्य दिया गया। महत्वपूर्ण समिति होने के कारण तत्कालीन प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड स्वयं उसके अध्यक्ष बने। अल्पसंख्यक समिति की सभी कार्यवाही अछूतों के लिए बड़ा महत्व रखती थी क्योंकि उस में कथित उच्च हिन्दुओं तथा अछूतों के मध्य जो बात घटित हुई और जो कड़वाहट आई वह समिति की कार्यवाही से स्पष्ट हो गई। जब गोलमेज सभा की बैठक हुई, अछूतों के अतिरिक्त अन्य सभी संप्रदायों की राजनैतिक माँगें सबको ज्ञात थी। वास्तव में 1919 के अधिनियम में अछूतों को व्यवस्थित अल्पसंख्यक माना गया और उनकी सुरक्षा का प्रावधान किया गया था। उन प्रावधानों को और अधिक विस्तृत करने तथा उनकी रूपरेखा में परिवर्तन करने का प्रश्न अब था। जहाँ तक दलित वर्गों का प्रश्न था स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। मांटेग्यू चेम्सपफोर्ड रिपोर्ट जिस पर 1919 का गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट आधारित था, उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया था कि एक्ट में अछूतों की सुरक्षा हेतु प्रावधान अवश्य किए जाए। परंतु दुर्भाग्यवश जब अधिनियम में उन सब बातों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जाने लगा तब भारत सरकार को उसमें सुरक्षा के लिए तौर तरीकों को ढूंढ़ निकालने के लिए बड़ी कठिनाई हुई और विधान सभाओं में संकेतात्मक प्रतिनिधित्व केवल नामजदगी के रूप मे दिया गया था। पहला कार्य जो करना था कि वह यह कि हिन्दुओं द्वारा अछूतों को पद्दलित करने के लिए उन पर जो अमानवीय

अत्याचार किये जा रहे थे, उनसे उनकी सुरक्षा करने के लिए कुछ उपाय किया जाए। अम्बेडकर के अनुसार गोलमेज सभा की अल्पसंख्यक समिति में एक ज्ञापन देकर उन्होंने इस कार्य को पूरा किया। उन्होंने जो ज्ञापन दिया, उसके अनुसार 'स्वायत्तशासी भारत के भविष्य के संविधान में दलित वर्गों के राजनैतिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए व्यवस्था की जाए। इसे गोलमेज सभा में प्रस्तुत किया गया।'[20] अम्बेडकर ने इस अधिवेशन मे न केवल दलितों के अधिकार की बात कहीं, बल्कि एक राष्ट्रवादी के रूप में कहा कि सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों को एक लोकतांत्रिक सरकार ही स्थापित कर सकती है। उन्होंने यह भी कहा, 'हमें हमारी ऐसी सरकार चाहिए, जिसमें सरकार जीवन की सामाजिक और आर्थिक संहिता में संशोधन करने से नहीं डरे, जो सामाजिक न्याय और औचित्य की अवधारणा पर कार्य करें। यह भूमिका ब्रिटिश सरकार कभी भी नहीं निभा पाएगी। यह कार्य केवल लोगों की सरकार द्वारा ही करना संभव होगा।'[21]

गोलमेज सम्मेलन में, 'जनता की, जनता के द्वारा और जनता के लिए सरकार' सूक्ति पर बल देते हुए अम्बेडकर ने न केवल यह सिद्ध कर दिया कि वे काफी ऊंचे दर्जे के देशभक्त हैं, बल्कि उन्होंने यह भी प्रदर्शित कर दिया कि संसदीय लोकतंत्र में उनका विश्वास अडिग है। उन्होंने घोषित किया कि हमारा ध्येय जीवन के सभी पहलुओं, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवहारों में 'एक व्यक्ति एक मूल्य' हासिल करना है।[22]

इस सभा में जो महत्वपूर्ण प्रश्न था, वह तत्कालीन परिस्थितियों में औपनिवेशिक स्वराज को लेकर था। डोमिनियन स्थिति के मूल मुद्दे पर आर.कूपलैण्ड ने लिखा है, शुरूआत में ब्रिटिश और भारतीय सदस्यों के रवैये में काफी भिन्नता थी। ब्रिटिश पक्ष की तरफ से अब यह स्वीकार कर लिया गया था कि भारत को तब डोमिनियन स्थिति प्रदान कर दी जाएगी जब भारत में ब्रिटिश राज के एक भाग के रूप में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की प्रक्रिया पूरी हो जाएगी। परंतु ब्रिटिश प्रतिनिधि चाहे उनका कोई भी दल हो, यह कहने के लिए तैयार नहीं थे कि यह प्रक्रिया तुरंत पूरी की जा सकती है। प्रदेशों में अस्थायी रक्षोपायों के साथ पूर्ण उत्तरदायी सरकार के लिए वे तैयार थे। साइमन रिपोर्ट और भारत सरकार के डिस्पैच दोनों में ये सिफारिश की गई थी। इसका शीर्ष केंद्र में था, जहाँ रिपोर्ट ने तुरंत उत्तरदायी सरकार के लिए मत दिया था और डिस्पैच ने केवल स्थायी सरकार की बात कही थी।

इसके अतिरिक्त भारतीय नेतृत्व, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपने साथ समानता का व्यवहार चाहता था। उसने कहा भारतीय ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्यों के साथ समानता चाहते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए प्रतिबद्ध हैं। यह समानता न केवल उन्हें उनकी बात सुनने वाली बल्कि लोकप्रिय आवाज के प्रति उत्तरदायी सरकार ही प्रदान करेगी।[23]

परंतु जैसी कि उम्मीद थी, प्रतिनिधि अलग–अलग सुर में बोले। जिन राजनीतिज्ञों का उद्देश्य संपूर्ण भारत के लिए सुविधाएँ प्राप्त करना था, उनका ऐसे राजनीतिज्ञों से मतभेद सुनिश्चित था, जिनका भविष्य प्रांतीय/क्षेत्रीय स्तर पर ही अधिकाधिक सुविधाएँ प्राप्त कर लेने पर निर्भर था उदाहरणार्थ अकाली दल आदि। मुस्लिम नेतृत्व अंग्रेजों की सहानुभूति पाने हेतु हिन्दुओं से कोई समझौता नहीं चाहता था। उदारपंथियों ने एक अखिल भारत संघ के गठन की बात कही। सिख प्रतिनिधि चाहते थे कि पंजाब के भू–भाग की इस प्रकार से पुनर्व्यवस्था की जाए कि वे उस प्रांत में बराबरी के स्तर पर आ जाए। दलित वर्ग, स्त्रियाँ, श्रमिक, व्यपारी वर्ग सभी चाहते थे कि उनकी ओर विशेष ध्यान दिया जाए तथा उन्हें विशिष्ट

रियायतें एवं सुविधाएँ प्रदान की जाए। अतः प्रथम गोलमेज सम्मेलन में समस्याएँ और विचारार्थ विषय तो प्रस्तुत किए गए, लेकिन कोई वास्तविक परिणाम सामने नहीं आया। इस समय सविनय अवज्ञा आंदोलन जैसी क्रांतिकारी गातिविधियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में नई ऊर्जा का संचार किया। ब्रिटिश शासकों ने यह स्वीकार किया कि कांग्रेस के प्रतिनिधित्व के बिना यह सभा भारत का प्रतिनिधित्व समग्र रूप से करने में असमर्थ है।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैमजे मैकडोनाल्ड ने 19 जनवरी, 1931 को सम्मेलन की समाप्ति इन शब्दों से की 'शाही सरकार के विचार में भारत के प्रशासन की जिम्मेदारी केंद्रीय तथा प्रादेशिक विधायिकाओं को दी जानी चाहिए' संक्रमण के दौरान कुछ वादों को पूरा करने तथा विशेष परिस्थितियों में अन्य को पूरा करने एवं अल्पसंख्यकों के राजनीतिक अधिकारों एवं आजादियों की रक्षा करने की गारण्टी के प्रावधान बनाए जाने चाहिए।[24] ब्रिटिश शासन ने उदारवादी नेताओं के सहयोग से गांधी जी को वायसराय से बातचीत करने हेतु तैयार कर लिया। कांग्रेस के उग्र विचारधारा वाले और वामपंथी नेता इस बात से नाखुश थे क्योंकि भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी दिए जाने का पूरे देश भर में भारी विरोध था और उन्होंने गांधी जी से अपील की कि वह वायसराय के साथ अपनी बातचीत के दौरान सभी राजनीतिक बंदियों का मामला अवश्य उठाएँ।

गांधी जी ने 19 फरवरी, 1931 को लार्ड इर्विन से भेंट की और उनकी बातचीत 15 दिनों तक चली, जिसके परिणामस्वरूप 5 मार्च को एक समझौता हुआ, जिसे 'गांधी–इर्विन समझौता' के नाम से जाना जाता है। पी.ई. राबर्टस के अनुसार–'4 मार्च को वायसराय और महात्मा के बीच एक समझौता हो गया, जिसके द्वारा इस बात पर सहमति हो गई कि सविनय अवज्ञा को समाप्त कर दिया जाए, राजनैतिक बंदियों को सिवाय उनके जो उग्र कार्यों के दोषी हैं, छोड़ दिया जाए और श्री गांधी लंदन के सम्मेलन के अगले सत्र में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करें।'[25]

गांधी–इर्विन समझौते की शर्तों के आधार पर कांग्रेस को सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित करना पड़ा। कांग्रेस द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए तैयार हो गई, परंतु स्वराज की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया। गोलमेज सम्मेलन में बातचीत के लिए यह आधार तय किया गया कि भारतीयों के हाथों में जिम्मेदारी सहित संघीय संविधान के आधार पर विचार–विमर्श किया जाएगा, राजनीतिक बंदियों को रिहा कर दिया जाएगा लेकिन जिन बंदियों पर हिंसा या हिंसा को भड़काने का आरोप लगाया गया है, उन्हें नहीं छोड़ा जाएगा अर्थात् भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव के मुद्दे पर कोई विचार नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त बिना लक्ष्य की प्राप्ति के आंदोलन स्थगित कर दिया गया। यहाँ तक कि नमक कर भी रद्द नहीं किया गया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की शुरुआत होने से पहले ही इंग्लैण्ड का राजनीतिक वातावरण काफी बदल गया था। लेबर सरकार का पतन हो गया था। उसकी जगह रैमजे मैकेडोनाल्ड के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सरकार का गठन हो गया, जिसमें अनुदार दल के लोग काफी प्रभावशाली स्थिति में थे। भारत में भी इर्विन का स्थान लार्ड विलिंगडन ने ग्रहण कर लिया।

उपर्युक्त परिस्थितियों में औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रश्न पर तो सभी एकमत थे परंतु अल्पसंख्यकों की समस्या के प्रश्न पर समस्त सभा विभाजित थी। गांधी और मुस्लिम लीग के नेताओं के संपर्क का कोई नतीजा नहीं निकला था। मुसलमानों के मध्य जिन्ना के 14 सुत्री कार्यक्रम पर सर्वसम्मति थी। यह भी

निश्चित था कि कांग्रेस एवं सरकार मुस्लिम हितों/माँगों को चुनौती देने में सक्षम नहीं थी। अन्य वर्ग जैसे हिन्दू महासभा, सिक्ख, यूरोपीय लोग, हरिजन आदि भी अपने हितों पर अधिक जोर दे रहे थे। अतः सांप्रदायिक मसले पर कोई निर्णय न होने के कारण द्वितीय गोलमेज सम्मेलन भी बिना किसी नतीजे पर पहुँचे ही समाप्त हो गया। इस सम्मेलन में गांधी तथा अम्बेडकर के बीच पूर्ण संघर्ष की स्थिति बन गई। दोनों ही स्वयं को भारत के अछूतों का वास्तविक प्रतिनिधि कहते थे। डॉ.अम्बेडकर ने गांधी जी के इस दावे को नकार दिया कि कांग्रेस अछूतों का प्रतिनिधित्व करती है।

अल्पसंख्यक संप्रदायों की समस्या आपसी समझौते से हल न कर पाने के कारण रैम्जे मैकडोनाल्ड ने 16 अगस्त, 1932 को कम्यूनल अवार्ड की घोषणा की। इस घोषणा के अनुसार अल्पसंख्यक तथा विशेष हितों वाले संप्रदायों मुसलमान, सिक्ख, दलित वर्ग, पिछड़े हुए क्षेत्र, भारतीय ईसाई, ऐग्लों इंडियन, यूरोपीय लोग, व्यापारिक और औद्योगिक वर्ग आदि की संख्या काफी बढ़ा दी गई। प्रत्येक अल्पसंख्यक संप्रदाय के लिए कौसिंल में स्थान निर्धारित कर दिए गए और उसके प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए भिन्न प्रणाली अपनाई गई, जिसमें अछूतों को पृथक मतदान का हक मिला। केंद्रीय विधानसभा में इस समुदाय को 78 सीटें दी गई, साथ ही दोहरे मतदान का अधिकार मिला, जो सामान्य तथा पृथक मतदाता की हैसियत से था।[26]

गांधीजी को इस निर्णय द्वारा सबसे अधिक दुःख दलित वर्गों के लिए सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली से हुआ। उन्होंने इस निर्णय के विरोध में मत प्रकट करते हुए मैकडोनाल्ड को एक पत्र लिखा और इसी पत्र में 30 सितम्बर से आमरण अनशन की सूचना दी और 'इसका उद्देश्य दलित वर्ग के लोगों के पृथक सांविधिक मताधिकार का विरोध करना था।' अम्बेडकर ने कहा–'यह बहुत ही अच्छा होता यदि गांधी जी आमरण अनशन का यह तरीका देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए करते, जिसके लिए वे गोलमेज सभा के सत्र में बराबर जोर देते रहे हैं। यह भी दुःख भरे आश्चर्य की बात है कि अछूतों के एकमात्र विशेष प्रतिनिधित्व को उन्होंने बलिदान का मुद्दा बनाया है। पृथक निर्वाचन केवल दलितों के लिए स्वीकार नहीं किया गया है वरन् इंडियन क्रिश्चियन, ऍंग्लों इंडियन तथा मुसलमान और सिक्खों के लिए भी स्वीकार किया गया है। बड़े भूस्वामियों, मजदूरों तथा व्यापारियों के लिए भी पृथक निर्वाचन स्वीकार किया गया है। गांधीजी ने मुसलमानों और सिक्खों के अतिरिक्त सभी वर्गों के विशेष प्रतिनिधित्व के विरोध करने की घोषणा की है, परंतु गांधी जी ने सबको छोड़कर अब दलित वर्गों को दिए गए विशेष प्रतिनिधित्व का विरोध करने का मार्ग पसंद किया। दलित वर्गों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था के परिणामों का भय जो गांधी जी को त्रस्त कर रहा है, मेरे विचार से पूर्णतया काल्पनिक है। यदि मुसलमानों और सिक्खों को पृथक निर्वाचन स्वीकार कर लेने से राष्ट्र के खडिण्त होने का भय नहीं है, तो दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचन स्वीकार कर लेने से हिन्दू समाज को खण्डित होने की आशंका भी व्यर्थ है।'[27]

इन हालातों में कांग्रेस में भी गतिविधियाँ बढ़ गईं। कांग्रेसी नेता गण अपनी स्थिति के लिए समर्थन जुटाने में लग गए और दलित समूहों से मिलने–जुलने और उनसे संयुक्त मताधिकार एवं हिन्दू जाति की एकता के लिए समर्थन माँगने लगें। अम्बेडकर पर भी दबाव पड़ रहा था। कहा गया कि अछूतों के लिए पृथक मताधिकार से गाँव–गाँव में हिन्दू तथा दलितों के बीच दरार पड़ जाएगी और यदि इसके विरोध के क्रम में गांधी की मृत्यु हो जाती है तो दरार और भयंकर रूप ले लेगी। 19 सितम्बर को हिन्दू और अछूत नेताओं की एक वृहद् बैठक बंबई में बुलाई गयी, जिसमें अम्बेडकर, राजा पी.बालू तथा मदन मोहन मालवीय, सर तेज बहादुर सप्रू, एम.आर. जयकर, सर चिमनलाल सीतलवाड़, सी. राजगोपालचारी, बी.एस. मुंजे तथा

ए.वी. ठक्कर शामिल हुएँ, अम्बेडकर के सामने ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गईं कि उन्हें समर्पण करने के अलावा कोई चारा नहीं दिखाई दिया। सप्रू तथा अम्बेडकर के बीच पूना समझौता हुआ और 24 सितम्बर को इस पर हस्ताक्षर किए गए। तत्पश्चात् गांधी जी ने भूख हड़ताल समाप्त कर दी। अम्बेडकर ने बैठक में अत्यंत भावपूर्ण माहौल में सुलह पर आधारित भाषण दिया। गांधी समर्थकों ने इसे हृदय परिवर्तन की संज्ञा दी।

पूना समझौते के अनुसार अछूतों के लिए पृथक मताधिकार के स्थान पर संयुक्त मताधिकार में आरक्षण की व्यवस्था थी, लेकिन साथ ही प्राथमिक निर्वाचन का भी प्रावधान था, जिसके अंतर्गत चार अछूत प्रत्याशियों के निर्वाचन की व्यवस्था थी। द्वितीय आम चुनाव में संयुक्त निर्वाचन क्षेत्रों के आधार पर इन्हीं प्रत्याशियों में से विजेता का चयन होना था। पृथक मताधिकार की क्षतिपूर्ति के रूप मे अछूतों की सीटों की संख्या लगभग दो गुनी कर दी गई (78 से 148) ताकि यह संख्या अछूतों की जनसंख्या के समानुपातिक हो सके।[28]

तीसरा गोलमेज सम्मेलन लंदन में 17 नवम्बर से 24 दिसम्बर, 1932 को आयोजित किया गया। इसी समय सारे भारत में आंदोलन चल रहा था और महात्मा गांधी तथा जवाहर लाल नेहरू जेल में थे। इस प्रकार सम्मेलन में कांग्रेस का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ। ब्रिटिश लेबर पार्टी भी इस से अलग रही। इस सम्मेलन में मात्र 45 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में सिंध तथा उड़ीसा को पृथक प्रांत बनाने तथा फेडरल असेंबली में मुसलमानों को 33 प्रतिशत स्थान दिए जाने की घोषणा की गई। अधिवेशन के प्रस्तावों को श्वेत पत्र के नाम से प्रकाशित किया गया, जिसके द्वारा गर्वनर जनरल को विशेष अधिकार प्रदान किए गए। अधिवेशन के प्रस्तावों से कोई भी वर्ग संतुष्ट नहीं हुआ। यहाँ तक कि इंग्लैण्ड के उदार दल ने भी अधिवेशन की उपलब्धियों के प्रति असंतोष ही व्यक्त किया।[29]

साइमन कमीशन की रिपोर्ट, तीन गोलमेज सम्मेलनों एवं ब्रिटिश शासन द्वारा प्रस्तुत श्वेत पत्र इन सभी को आधार बनाकर 1935ई. का भारत सरकार अधिनियम पारित किया गया। यह एक विस्तृत प्रलेख था अधिनियम पारित किया गया। यह एक विस्तृत प्रलेख था अधिनियम में 14 भाग और 10 अनुसूचियाँ थी।'[30]

1935 के भारतीय शासन अधिनियम की सर्वप्रमुख विशेषता यह थी कि इसने भारत को एक संघ स्थापित करने का सुझाव दिया। संघ बनाने के लिए यह निश्चित किया गया कि यह संघ उस समय तक अस्तित्व में नहीं आएगा जब तक कि (अ) रियासती प्रतिनिधियों में से न्यूनतम आधे प्रतिनिधि चुनने वाली रियासतें सम्मिलित न हों तथा (ब) रियासतों की कुल जनसंख्या में से आधी जनसंख्या वाली रियासतें संघ में सम्मिलित न हो।[31]

गवर्नरों के प्रांतों तथा मुख्य आयुक्तों के प्रांतों को परिसंघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था जबकि देशी रियासतों (राज्यों) के लिए परिसंघ में शामिल होना ऐच्छिक था तथा शामिल होने के पूर्व उन्हें सम्मिलित होने के आशय का विलयपत्र निष्पादित करना अनिवार्य था।[32]

1935 मे ब्रिटिश भारत के अंतर्गत 11 गवर्नर वाले तथा 5 मुख्य आयुक्त वाले प्रांत थे। देशी राज्यों की संख्या लगभग 600 थी और संघ के निर्माण के लिए कम से कम आधे राज्यों का अधिमिलन आवश्यक था। इस शर्त के पूरी हो जाने पर ब्रिटिश संसद के दोनों सदनों द्वारा ब्रिटिश संसद को अखिल भारतीय

परिसंघ के सृजन का प्रस्ताव भेजा जाएगा, जो विधिवत् इसकी उद्घोषण करेगा। एक बार परिसंघ मे सम्मिलित होने के पश्चात कोई देशी राज्य उससे अलग नहीं हो सकता। जिन विषयों के लिए उसे परिसंघ में शामिल होना स्वीकार किया है, उनमें कमी की जा सकती थी।

परिसंघ का प्रमुख लक्षण संघीय सरकार के मध्य विधायी शक्तियों का विभाजन होता है। भारतीय परिसंघ की दो भिन्न इकाईया प्रांत तथा देशी राज्य थे अतः विधायी शक्तियों का विभाजन अपेक्षाकृत जटिल होना स्वाभाविक था। इस अधिनियम द्वारा विधायी विषयों को तीन विभिन्न सूचियों मे विभाजित किया गया। जिन्हें केंद्रीय सूची, समवर्ती सूची एवं प्रातीय सूची कहा गया। केंद्रीय सूची मे 59, प्रांतीय सूची में 54 तथा समवर्ती सूची में 36 विषयों का समावेश किया गया।[33]

केंद्रीय विधान मण्डल सामान्य रूप से संघीय विधान सूची तथा समवर्ती विधान सूची के सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति रखता था। परंतु आपात की उदघोषणा के प्रवर्तन में संघीय विधान–मण्डल को गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति लेकर प्रांतीय विधान सूची के किसी भी विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त था।[34] देशी रियासतों के संबंध में संघीय सरकार की विधायी और कार्यकारी शक्तियाँ केवल उन विषयों और सीमाओं से घिरी हुई थी, जिनका प्रत्येक राज्य के विलय पत्र में उल्लेख होता था।

इस अधिनियम द्वारा भारत के गवर्नर जरनल को संघीय कार्यपालिका के प्रधान की भूमिका थी। धारा–7 के अनुसार उसकी नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा ब्रिटेन के प्रधानमंत्री की सलाह पर 5 वर्षो के लिए की जाती थी और उसे भारतीय कोष से रु. 2,50,800/– वार्षिक वेतन का प्रावधान किया गया।[35] गवर्नर जनरल के लिए यह अनिवार्य था कि वह अपने मंत्रिमण्डल का गठन करें, जो उसके कार्यकारी कार्यों में सलाह तथा सहायता करेगी तथापि अपनी विवेकाधीन शक्ति का प्रयोग करते समय उसे मंत्रिमण्डल की सलाह लेना आवश्यक नहीं था क्योंकि ऐसे समय में उसके निर्णय सर्वोपरि थे।

इस एक्ट के माध्यम से 1919 के मांटेग्यू चेम्सफोर्ड अधिनियम द्वारा प्रांतों में लागू किये गए द्वैध शासन को अब केन्द्रीय स्तर पर लागू करने का प्रावधान किया। प्रांतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन एवं केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना का लक्ष्य रखा गया। केन्द्र में द्वैध शासन प्रणाली के लागू किये जाने से केन्द्र के प्रशासनिक विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया, जो आरक्षित तथा हस्तांतरित विषय कहलायें। आरक्षित विषयों का शासन गवर्नर जनरल को अपनी कार्यकारी परिषद् की सहायता से अपने विवेक के अनुसार करना था। संघीय कार्यकारिणी का यह भाग संघीय विधान मण्डल के नियंत्रण से बाहर था, जिसका परिणाम यह रहा कि इन विषयों पर गवर्नर जनरल कितनी ही निरंकुशता से अथवा देश के लिए कितने ही अहितकार कार्य करता रहे, विधान मण्डल कुछ नहीं कर सकता था। हस्तांतरित विषयों का शासन विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों के हाथों में सौंपा गया था। अधिनियम में मंत्रिपरिषद् को गवर्नर जनरल की 'सहायता और सलाह' के लिए बताया गया और इनकी संख्या अधिकतम 10 निर्धारित की गयी।

गवर्नर जनरल को यह भी अधिकार दिया गया कि वह देशी नरेशों द्वारा नामजद राज्यों के प्रतिनिधियों को मंत्रिमण्डल में सम्मिलित कर सकता था।

साधारणतः गवर्नर जनरल, हस्तांतरित विषयों में अपने मंत्रियों के परामर्श से कार्य करेगा, परंतु विशेष परिस्थितियों में यदि वह यह समझता है कि इन परिस्थितियों में वह मंत्रियों के परामर्श के अनुसार

कार्य करने पर अपने विशेष उत्तरदायित्व का पालन नहीं कर पा रहा है, तो वह मंत्रियों के परामर्श की अवहेलना कर अपने विवेक के अनुसार कार्य कर सकता था। विधान के क्षेत्र में गवर्नर–जनरल को निषेध का अधिकार प्राप्त था, जिसके कारण वह विधान मण्डल द्वारा पारित विधेयकों को कानून बनने से रोक सकता था।

संघीय विधान मण्डल

इस एक्ट के अनुसार केंद्रीय विधान मण्डल के तीन अंग होने थे

1– गवर्नर–जनरल 2– राज्य परिषद् 3– विधानसभा

केंद्रीय विधान मण्डल द्विसदनीय रखा गया। उच्च सदन अथवा राज्य परिषद् में अधिक से अधिक 260 सदस्य हो सकते थे। 156 ब्रिटिश भारत से और 104 देशी राज्यों से। आर. कूपलैण्ड के अनुसार–'संघीय विधानमण्डल जब कभी वह अस्तित्व में आए, विद्यमान केंद्रीय विधानमण्डल के समान द्विसदनीय होंगे। राज्य सभा में ब्रिटिश भारत के 156 प्रतिनिधि और राज्यों 104 से अधिक प्रतिनिधि नहीं होंगें। यह भंग नहीं की जाएगी, परंतु तीसरे वर्ष में इसके एक तिहाई सदस्य सेवानिवृत्त हो जाएँगे। राज्य के प्रतिनिधियों की नियुक्ति उनके शासकों द्वारा की जाएँगी और छोटे राज्यों को निर्वाचन के प्रयोजनों के लिए इकट्ठी इकाईयों में रखा जाएगा। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों में से छह का निर्वाचन गवर्नर जनरल द्वारा किया जाना है। शेष बचे 150 स्थानों में से 10 स्थानों को छोड़कर शेष को जनसंख्या के आधार पर प्रदेशों में बाँट दिया जाएगा अर्थात् मद्रास, बंगाल और संयुक्त प्रांत को 20, बंबई पंजाब और बिहार को 16, केंद्रीय प्रदेश को 8, असम, उत्तर पश्चिम सीमांत प्रदेश, उड़ीसा और सिंध को 5 और बड़े मुख्य आयुक्त के प्रदेशों में प्रत्येक को 1 स्थान दिया गया। अन्य 10 स्थान भारत में, कुल मिलाकर आंग्ल भारतीय, यूरोपियन और भारतीय ईसाई समुदायों को दिए गएँ[36] संघीय विधानसभा अर्थात् निम्न सदन में कुल 375 सदस्य होने थे, जिसमें से 125 स्थान देशी रियासतों को दिए गए और शेष 250 स्थान ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों के लिए थे। 'संघीय असेंबली को यदि पहले विघटित न किया जाए तो उसका प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात पुनः निर्वाचन किया जाएगा। इसमें ब्रिटिश भारत के 250 प्रतिनिधि और राज्यों के 125 से अधिक प्रतिनिधि नहीं होंगे। राज्यों के प्रतिनिधियों का आवंटन मुख्यतः जनसंख्या के आधार पर आधरित होगा। इसलिए हैदराबाद को 16 स्थान, मैसूर को 7 स्थान, ट्रावनकोर को 5 स्थान मिलेंगे। परंतु वैयक्तिक तौर पर कुछ राज्यों का पृथक प्रतिनिधित्व होगा। अधिकाँश मामलों में राज्यों के एक समूह के लिए प्रतिनिधि होगा। ब्रिटिश भारत के स्थानों का आवंटन ऊपरी सदन के सिद्धांत के आधार पर किया जाएगा। परंतु इस सदन में सामान्य, मुस्लिम और सिख, जिनकी कुल मिलाकर स्थान संख्या 193 है, को अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा भरा जाएगा अर्थात् उन समुदायों के सदस्यों द्वारा जो प्रादेशिक विधान सभाओं के सदस्य हैं, एक अहस्तांतरणीय मत के साथ समानुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा भारतीय इसाईयों, आंग्ल–भारतीयों और यूरोपीय प्रतिनिधियों तथा महिलाओं का निर्वाचन इन वर्गों के प्रादेशिक असेम्बलियों के सदस्यों द्वारा किया जाएगा। अनुसूचित जातियों जिन्हें अब अधिकारिक तौर पर दलित कहा जाता है, का निर्वाचन असेंबलियों में सामान्य स्थानों के धारकों द्वारा पूर्व में निर्वाचित अभ्यर्थियों में से किया जाएगा।'[37]

इस अधिनियम के भाग 9 में संघीय न्यायालय का उल्लेख किया गया, जिसमें प्रावधान किया गया कि संघ की राजधानी दिल्ली में एक संघीय न्यायालय की स्थापना की जाए। आर. कूपलैण्ड ने लिखा है– 'न्याय व्यवस्था को अधिनियम के पैरा–9 में रखा गया है। यह प्रदेशों में उच्च न्यायालयों के गठन और

प्रक्रिया में कुछ सुधारों के साथ उनकी पुनर्स्थापना करता है और एक नए संघीय न्यायालय का सृजन करता है, जो भारत के एक मुख्य न्यायमूर्ति और कम से कम 6 न्यायाधीशों से मिलकर बनेगा। यह संघ और प्रदेशों के बीच और संघीय राज्यों के बीच विधि के प्रश्न या तथ्य जिस पर विधिक अस्तित्व या विस्तार पर निर्भर करता है, के लिए विशिष्ट अधिकारिता का प्रयोग करेगा। यह कतिपय परिस्थितियों में ब्रिटिश भारत के उच्च न्यायालयों से अधिनियम के निर्वाचन के सारवान प्रश्नों या परिषद् में किए गए आदेशों से उद्भूत अपीलों की भी सुनवाई कर सकता है। कुछ मामलों में संघीय न्यायालय प्रीवी परिषद् से बिना अनुमति के या अनुमति सहित प्रीवी परिषद् की न्यायिक समिति को की गई अपीलों की भी सुनवाई करेगा। न्यायाधीश की नियुक्ति सम्राट द्वारा होनी थी। 65 वर्ष की उम्र तक अबाधित रूप से कार्य करने के प्रावधान का उद्देश्य न्यायपालिका की स्वतंत्रता को बाधित न करना था। संघीय न्यायालय का अधिकार क्षेत्र काफी विस्तृत था। संघ एवं राज्य के मध्य तथा संघ की दो इकाईयों के मध्य मतभेद की स्थिति में मामले की सुनवाई करना संघीय न्यायालय का मौलिक अधिकार बताया गया। साथ ही उच्च न्यायालय यदि मान ले कि किसी मुकदमें में सांविधानिक मामले का प्रश्न उठता है तो यह मुकदमा संघीय न्यायालय के समक्ष अपील सुनने के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत लाया जा सकता है। गवर्नर जनरल को यदि आवश्यकता हो तो किसी भी मामले में संघीय न्यायालय की राय माँग सकता है। न्यायालय की यह राय उसके परामर्शीय क्षेत्राधिकार के अंतर्गत समझी जाती थी।

भारत शासन अधिनियम 1935 का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान प्रांतीय स्वायत्तता दिया जाना था। इसके द्वारा ग्यारह गवर्नर प्रांतों में (ये प्रांत थे–मद्रास, बंबई, बंगाल, सुंयक्त प्रांत, पंजाब, बिहार, मध्य प्रांत और बरार, असम, उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत, उड़ीसा और सिंध) द्वैध शासन समाप्त करके उन्हें पूर्ण प्रांतीय स्वायत्तता प्रदान की गई। इसके अंतर्गत प्रत्येक प्रांत में एक कार्यपालिका तथा विधान मण्डल की व्यवस्था की गई थी। यह प्रांतीय प्रशासन पूर्णतः जनता द्वारा निर्वाचित मंत्रियों को सौंपा गया, जो प्रांत के विधान मण्डल के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी थे। परंतु गवर्नरों को अपने विशेष उत्तरदायित्वों के निर्वहन में विवेक आधारित व्यक्तिगत निर्णय लेने का अधिकार था। साथ ही प्रांतों की स्वायत्तता पर अनेक प्रतिबंध थे, जैसे–गवर्नर जनरल आसन्न युद्ध अथवा भंयकर आंतरिक अशांति के खतरे को देखते हुए आपात की घोषणा कर सकता था और उस स्थिति में प्रांतों की स्वायत्तता का अतिक्रमण कर सकता था।[38]

ग्यारह प्रांतों में से छः प्रांतों (यथा–बंगाल, मद्रास, बंबई, संयुक्त प्रांत, बिहार और असम) द्विसदनीय विधान मण्डल की व्यवस्था थी। इन्हें विधान सभा एवं विधान परिषद् कहा गया था। विधान सभा निम्न सदन था तथा विधान–परिषद् उच्च सदन था। विधान परिषद् में सदस्यों की संख्या अलग–अलग थी।

विधान सभा में सबसे कम सदस्य (50) पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में तथा सबसे अधिक सदस्य (250) बंगाल से थे। विधान मण्डल में सबसे कम सदस्य (20) असम में तथा सर्वाधिक सदस्य (65) बंगाल में ही थे। विधान सभा के लिए चुनाव प्रत्यक्ष पद्धति से होने की व्यवस्था थी, किंतु मताधिकार प्रांत में भिन्न था। मताधिकार के लिए अधिकतम महत्त्व प्रायः सम्पत्ति को दिया गया था। न्यूनतम माल गुजारी अथवा न्यूनतम मकान किराये आदि के आधार पर भी मताधिकार दिया गया था। सैनिक सेवा, शैक्षिक अर्हता आदि भी मताधिकार के आधार माने गए। 1935 के अधिनियम के अंतर्गत कुल मिलाकर लगभग 14 प्रतिशत जनसंख्या को मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ। प्रतिनिधि क्षेत्रों का संगठन धर्म, जाति, लिंग, हितों आदि के आधार पर किया गया। मुसलमानों, सिक्खों, आंग्ल–भारतीयों, भारतीयों ईसाइयों तथा यूरोपीय के लिए अलग क्षेत्र थे, इसके अतिरिक्त कुछ आम चुनाव क्षेत्र भी थे, जो प्रायः हिन्दुओं और दलित वर्ग के लिए थे। कुछ

विशेष हितों को भी प्रतिनिधित्व दिया गया, उनमें जमींदार, विश्वविद्यालय, वाणिज्य, श्रम और उद्योग शामिल थे। महिलाओं के लिए भी कुछ स्थान आरक्षित किए गए।

इस अधिनियम के भाग 11 की धारा 278 से 284 'क' में भारत सचिव के पद तथा भारत परिषद् की समाप्ति के प्रावधान थे। अंत में अधिनियम ने भारत परिषद् को समाप्त कर दिया और इसके स्थान पर सलाहकारों के एक निकाय का उपबंध किया, जिसमें कम से कम 3 और अधिकतम 6 सदस्य थे, उसके लिए उनसे सलाह करना या उनके परामर्श को मानना (सिवाय सिविल सेवाओं के संबंध में) बाध्यकारी नहीं था। भारत कार्यालय की लागत अतंतः ब्रिटिश राजस्व पर अब भारित की जा रही थी।[39]

भारतीय शासन अधिनियम 1935 की महत्त्वपूर्ण विशेषता इसके माध्यम से एक अखिल भारतीय संघ की परिकल्पना किया जाना जाना था। इनमें पहली बार व्यावहारिक रूप में एक ऐसी संघात्मक व्यवस्था की परिकल्पना की गई, जिसमें ब्रिटिश भारत के गवर्नर वाले प्रांत ही नहीं, मुख्य आयुक्त वाले प्रांत तथा देशी राज्यों का भी समावेश हो, लेकिन संघ का निर्माण तभी हो सकता था जब कि देशी रियासतों की कुल जनसंख्या की कम से कम आधी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे शासक जिन्हें संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन मे देशी रियासतों के लिए निर्धारित कुल स्थानों में से कम से कम आधे स्थानों का अधिकार हो, संघ में शामिल होने हेतु सहमत हों। केंद्र में प्रस्तावित योजना को दृष्टिगत रखते हुए गवर्नर के ग्यारह प्रांतों को कुछ विशिष्ट प्रयोजनों को छोड़कर केंद्रीय सरकार तथा सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के निर्देशन एवं नियंत्रण से पूरी तरह मुक्त कर दिया गया। मंत्रिमण्डल को विधानमण्डल के प्रति जिम्मेदार बना दिया। निःसंदेह यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी।

भारत के संवैधानिक इतिहास में भारत शासन अधिनियम 1935 एक महत्वपूर्ण कदम था। देश को एक लिखित संविधान देने का प्रयास किया गया, परंतु भारत की जनता या उसके प्रतिनिधियों का इस दस्तावेज के निर्माण में कोई योगदान नहीं था। प्रतिनिधित्व की संकल्पना भी सच्चे अर्थों में स्थापित नहीं हुई थी, फिर भी यह तुलनात्मक रूप से एक प्रगतिशील कदम था।

सन्दर्भ –

1. पूना पैक्ट (यरवदा करार), डॉ.बी.आर. अम्बेडकर, अनुवाद–जगन्नाथ प्रसाद कुरील, पृष्ठ9
2. भारत का विधिक इतिहास, सुरेन्द्र मधुकर, विधि साहित्य प्रकाशन, विधायी विभाग, विधि और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार, पृष्ठ–349
3. B. Pattabhi Sitaramaiya, The History of Indian National Congress. Part-1 (1885-1935), Low Printing House, Madras, Page-539-40
4. पूना पैक्ट (यरवदा करार), डॉ.बी.आर. अम्बेडकर , अनुवाद–जगन्नाथ प्रसाद कुरील, पृष्ठ–9
5. अम्बेडकर प्रबुद्ध भारत की ओर, गेल ओमवेट, पेगुंइन बुक्स, पृष्ठ–21
6. अम्बेडकर प्रबुद्ध भारत की ओर, गेल ओमवेट, पेगुंइन बुक्स, पृष्ठ–27
7. अम्बेडकर प्रबुद्ध भारत की ओर, गेल ओमवेट, पेगुंइन बुक्स, पृष्ठ–35
8. Dhananjay Keer, Dr. Ambedkar, Life and Mission(1962), Popular Prakashan, 1995, Page 115
9. The Depressed Class in India, Page71-72

10. R. Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page101
11. Simon Report II, 16
12. R. Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page102
13. R.Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page 102
14. Simon ReportII, 146
15. भारत का संविधानिक विकास और संविधान, डॉ. सुभाष काश्यप, हिन्दी मा.का.नि., दिल्ली विश्वविद्यालय, पृष्ठ–118
16. Dominian Status had been given to Canada and Australia in the British Commonwealth according to which they were given indipencence for internal administration, The Governor General who represented the crown was to be nominal Head.
17. R. Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page 110
18. R. Coupland, The Indian Problem, (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page 113
19. डॉ. अम्बेडकर, पूना पैक्ट (यरवदा करार), अनुवाद–जगन्नाथ प्रसाद कुरील, पृष्ठ–10
20. डॉ. अम्बेडकर, पूना पैक्ट (यरवदा करार), अनुवाद–जगन्नाथ प्रसाद कुरील, पृष्ठ10–12
21. D.C.Ahir, Dr.Ambedkar at the Round Table Conferences, London (1930-1932), Blumoon Book, Page2
22. D.CAhir, Dr.Ambedkar at the Round Table Conferences London (1930-1932), Blumoon Book, Page 2
23. R. Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page 115
24. Jawahar Lal Nehru, An Autobiography, London, Page36
25. P.E. Roberts, History of British India, Oxford University Press, 1952, Page605
26. अम्बेडकर प्रबुद्ध भारत की ओर, गेल ओमवेट, पेगुंइन बुक्स, पृष्ठ–45
27. डॉ. अम्बेडकर, पूना पैक्ट (यरवदा करार), अनुवाद–जगन्नाथ प्रसाद कुरील, पृष्ठ–65
28. अम्बेडकर प्रबुद्ध भारत की ओर, गेल ओमवेट, पेगुंइन बुक्स, पृष्ठ–46–47
29. भारत का वैधानिक एवं सवैधानिक इतिहास, कमलेश शुक्ला, इलाहाबाद लॉ एजेंसी पब्लिकेशन, 1998, पृष्ठ–277
30. R. Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page 133

31. Govt.of India Act 1935, Articles 5 (1) (a) (b), Page3
32. Govt. of India Act 1935, Articles 6, Page 3
33. Govt. of India Act 1935, Articles 100, page 64,
(Detailed List In Saventh Schedule, Page 390)
34. Govt.of India Act 1935, Articles 102, Page 65
35. Govt.of India Act 1935, Articles 7, III Schedule, Page 328
36. R. Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page 137
37. R. Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page 138
38. R. Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page 140
39. R. Coupland, The Indian Problem (1883-1935), Oxord University Press, 1943, Oxford University Press, 1943, Page 140-141